

शिक्षक बनाम शिल्पकार

□ शारदा कुमारी

यह टिप्पणी शिक्षक का ध्यान बच्चों के अन्तर्मन की ओर आकर्षित करती है। बच्चे की भावनाओं, अनुभूतियों और जिज्ञासाओं को समझे बिना शिक्षण-प्रक्रिया बेजान होगी। साथ ही शिक्षकों की शिक्षणोत्तर भूमिका पर असंतोष व्यक्त किया गया है। असल में स्कूल और कक्षा की संस्कृति शिक्षकों की मान्यताओं और सरोकारों से निर्मित होती है। एक बौद्धिक समूह के रूप में शिक्षकों की भूमिका को टिप्पणी में प्रशिक्षित किया है।

दिल्ली राज्य के एक निम्न मध्यमवर्गीय घर में सुबह का दृश्य :

- “एक बार बोल दिया न मुझे नहीं जाना स्कूल।”

- “कैसी है रे तू, जब दाखिला नहीं मिला था तब झोला टांगे हर समय स्कूल जाने की रट लगाए रहती थी और अब?”

- “मम्मी, क्या करूं वहां जाकर, कोई मेरी बात को सही तो बताता नहीं। मैडम तो यही बोलेंगी - गलत, एकदम गलत। पढ़कर नहीं आई क्या?”

एक और दृश्य - यह संवाद एक अध्यापिका एवं उसके प्रशिक्षक के बीच में है :

- “सर क्या करूं, बहुत ही परेशान हूं कक्षा के बच्चों को लेकर। कुछ बच्चे तो ऐसे हैं बस पूछो नहीं। बहुत ही बोलते हैं सवाल पूछो एक, जबाब मिलेंगे दस।”

- “फिर तुम उनका क्या करती हो?”

- “सर करना क्या है? सजा दे दी, कक्षा से बाहर कर दिया या फिर मुंह पर उंगली रख बैठने को कह दिया। अब इन्हें सुनने बैठ जाऊं तो हो ली पढ़ाई!”

- “और दूसरे बच्चे?”

- “दूसरे? वे तो ऐसे हैं कितना भी सिर पटक लो मगर बोलकर ही नहीं राजी। जबाब ही नहीं देते। घरवाले कहते हैं कि घर में तो अच्छा खासा बोलते हैं।”

- “अच्छा, क्या तुम अपनी कक्षा के सबसे चुप रहने वाले बच्चे से मुझे मिलवा सकती हो?”

अध्यापिका अपनी कक्षा के सबसे चुप रहने वाले बच्चे को प्रशिक्षक से मिलवाती है :

“मैं तुमसे कुछ सुनना चाहता हूं। कुछ बताओगे?”

बच्चा बिल्कुल चुप है। सहमा और शरमाया हुआ। पुनः बहुत ही सहज एवं शांत भाव से फिर प्रश्न उभरता है - “बच्चे, मैं आपसे कुछ सुनना चाहता हूं।”

बच्चे ने सहमते हुए कुछ बोलने का साहस किया :

- “पर आप जो पूछेंगे, मैं शायद उसका जबाब न दे पाऊं।”

- “पर मैं तो आपसे कुछ भी नहीं पूछ रहा। मैं तो सिर्फ वही सुनना चाहता हूं जो तुम बताना चाहोगे।”

और फिर सकुचाते सहमते बच्चे ने जो बोलना शुरू किया अपने घर, अपने भाई, अपने खिलौने, अपने संग्रह के बारे में, उसका कोई अंत न था।

अध्यापिका का कहना था- “सर, पर इन सब बातों से हमें क्या लेना-देना। हमें तो किताबों में लिखे प्रश्नों के ही उत्तर सुनने होते हैं न।”

और किताबों (पाठ्यपुस्तकों) के प्रश्नों के वांछनीय उत्तर देकर बच्चा अपनी नैसर्गिकता खो बैठता है या फिर स्कूल की अपेक्षा घर बैठना पसंद करता है, अन्यथा अपने भीतर बैठे सुकोमल जीव को खो बैठता है।

शिक्षा के कलाकार या मूर्तिकार को निर्जीव द्रव्य से नहीं, एक बालक के रूप में अत्यधिक और संवेदनशील सजीव जीव के साथ काम करना होता है। कक्षा में बैठे बालक कोई निर्जीव लकड़ी, पत्थर या दूसरी कोई धातु नहीं जिसे शिक्षक रूपी कलाकार अपनी कल्पना के मुताबिक जब जैसा चाहे, तराश दे। ये बच्चे कोई कोरी स्लेट या मिट्टी का लोंदा नहीं। उनके पास एक मन है, बहुत सी भावनाएं हैं और बहुत से विचार कुलबुलाते रहते हैं। इसलिए शिक्षक रूपी कलाकार को एक बालक की शैक्षिक कलाकृति गढ़ने में विशेष सावधानी एवं परिश्रम की जरूरत है। उसे बालक के मन की अतल गहराइयों में उतरने की जरूरत है। उसी गहराई को लेकर उसे अपना काम आरंभ करना चाहिए। बालक

की जटिल संवेदनाओं की सीमा को ध्यान में रखना चाहिए, जो उसकी स्वयं की प्रकृति और आस-पास के सामाजिक परिवेश से गढ़ी और विकसित होती रहती है। इसलिए सीखने-सिखाने की कोई भी क्रिया, उससे संबंधित समस्याओं की सफलता और समाधान तभी सिद्ध होंगे, जब उसका विधान कक्षा में पढ़ने वाले बालकों की अन्तरात्मा को ध्यान में रखकर तैयार किया जायेगा।

शिक्षा का वास्तविक आधार बालक मन का अध्ययन करना ही है। शिक्षा का प्रमुख कार्य है - बालक मन की जिज्ञासाओं की खोज करना और उन्हें विकसित करना। शिक्षा का यह भी उद्देश्य है कि बालक की अन्तरात्मा की इस बात में सहायता करना कि वह अपने अन्तर की अच्छी या बुरी हर चीज बाहर लाए।

मात्र बाह्य-स्तर पर बनी व्यापक शैक्षिक योजनाओं से बालकों के विकास की कल्पना करना स्वयं को भ्रम में रखना है। वर्तमान समय में शिक्षा जगत में उत्पन्न अनेक समस्याएं इसी का परिणाम हैं। जब कभी भी शिक्षा के मूल केन्द्र 'बालक मन' की अवहेलना की गई, अच्छी से अच्छी योजनाएं बड़े से बड़े पाठ्यक्रमों को निरस्त होना पड़ा है। अतः शिक्षा से जुड़े सभी सहकर्मियों को अपनी सफलता और उपलब्धियों के लिए बालक की प्रकृति को पहचानना ही होगा। चाहे शिक्षा क्षेत्र के बुद्धिजीवी, चाहे नीति निर्धारक, चाहे वरिष्ठ अधिकारी हों, चाहे कक्षा में पढ़ाने वाले अध्यापक हों या फिर जन्म देने वाले और पालन-पोषण करने वाले माता-पिता, हमें कोई अधिकार नहीं कि लुहार या शिल्पकार की तरह छैनी हथौड़ी लेकर अपने चाहे हुए रूप में बालक को गढ़ने का प्रयास करें। यह प्रयास एक अति अज्ञानतापूर्ण, नृशंस और बर्बर प्रयास होगा।

बालक को यह तो प्रेरणा देनी ही होगी कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपना विकास करे। उसकी प्रकृति को ध्यान में रखकर ही शिक्षा जगत के कार्यक्रमों, अपेक्षाओं व प्रक्रियाओं का संयोजन करना चाहिए।

आप यह प्रश्न उठा सकते हैं कि यदि बच्चे की नैसर्गिकता का इतना ही ख्याल है तो बच्चों को औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में लाने की जरूरत ही क्या है? आज की जो पूंजीवादी समाज व्यवस्था है उसमें औपचारिक शिक्षा व्यवस्था से जुड़े बगैर कोई चारा नहीं रह गया है। औपचारिक शिक्षा व्यवस्था का प्रभाव बहुत बढ़ गया है और उसमें न पहुंच पाने की पीड़ा हरेक के मन में है। बहुत से बच्चे ऐसे भी हैं जो येन केन प्रकारेण इस व्यवस्था की परिधि में पहुंच तो जाते हैं पर दूसरी या तीसरी कक्षा के बाद बाहर हो जाते हैं या बाहर कर दिए जाते हैं। उन पर 'अनफिट', असमर्थ, अयोग्य का बिल्ला लग जाता है। बड़ा आश्चर्य होता है इस बात पर कि

गरीबी के हाशिए पर खड़े, सुख-सुविधाओं से वंचित, कठिन अभावों में भी जो बच्चे जिंदा रहने की काबलियत रखते हैं, उन्हें स्कूली व्यवस्था अनफिट करार कर देती है।

ऐसा नहीं कि ये बातें हमारे अध्यापकों के मन में नहीं कुलबुलाती। उनके मन में भी तड़प है इन सब बच्चों के प्रति। पर शायद कहीं वे व्यवस्था के शिकार हो जाते हैं। जैसा कि अक्सर सुनने को मिलता है :

“पाठ्यक्रम ऊपर से बन कर आता है। हमारे ऊपर उसे एक निश्चित अवधि में पूरा करने का दबाव बना रहता है। यदि हम पूरा न कर पाएं तो अयोग्य साबित कर दिए जाते हैं।”

“हम पर दबाव रहता है अच्छा रिजल्ट दिखाने का। कर्मठ एवं योग्य अध्यापक वही है जिसकी कक्षा के सर्वाधिक बच्चे पास हुए हैं और अच्छे अंक लाए हैं। अच्छे अंक लाना और एक इंसान बनना दोनों में अंतर है। अच्छे अंक लाने के लिए किताबी सूचनाएं रटना बहुत जरूरी है।”

“आप स्कूल के हालात देख रहे हैं न। न बैठने की सुविधा, न जल आदि की व्यवस्था। 80-80 बच्चों की एक कक्षा। स्टाफ की कमी। ढेरों झंझट। बच्चों का महीने भर के लिए गायब हो जाना।”

“हमारे पास पढ़ाने के अलावा ढेरों झंझट हैं। यूं कहिए कि हम पढ़ाने के सिवा सभी काम करते हैं। मसलन सर्वे है, इलैक्शन ड्यूटी है, सैकड़ों तरह के हिसाब और आंकड़े रखने का काम है।”

इन सब बातों के उत्तर मेरे पास तो क्या, शिक्षा क्षेत्र से जुड़े बुद्धिजीवियों, नीति निर्धारकों के पास भी नहीं है और न ही कोई समाधान। पर मेरे पास एक प्रश्न अवश्य है -

क्या किसी अध्यापक या अध्यापकों के समूह ने इन सब अनियमितताओं के विरोध में बोट क्लब पर धरना दिया?

विद्यालय में इमारत, ब्लैक बोर्ड, चॉक आदि सुविधाओं के न होने पर कितने अध्यापकों ने प्रशासन को झकझोरा? अध्यापक वर्ग व्यवस्था के खिलाफ आवाज तो उठाता है पर तब जब उसे स्वयं को हानि होती है। अतः सबसे पहले जरूरत है एक जज्बा पैदा करने की कि हमारे ये विद्यालय, हमारी नीतियां, हमारी व्यवस्था और हम इन बच्चों के लिए हैं न कि बच्चे इन सबके लिए। पहले से ही तयशुदा प्रक्रिया में बच्चों को समाहित कर देना कहां की समझदारी है। जरूरत है आज इस जड़ स्कूली तंत्र को बदलने की। और यह काम कोई सरकार नहीं करेगी। हम और आप मिलकर ही कर पायेंगे। तो फिर क्यों न एक नई सोच की प्रक्रिया शुरू करें? ♦